

अनन्त के अद्वितीय अन्तरीक्ष की पीठिका पर उभरता एक श्याम-बलय — जिसकी गोरी किनार कलमलती हुई — और अपनी कलमलताहट में ही एक अगोचर आलोक का पूर्वभास सा कराती हुई।... एक संक्षिप्त धवल वृत्त अब उस काले शून्य से उभर आया है : चतुर्दिक् ज्योति के तीरे तिरे खान विकीरित करता हुआ.... और अपनी ही अर्जा से गुंजायमान। इन चित्रों के तल में शुभ्रितबोध की काव्य-पंक्तियाँ अंकित हैं, जो स्वयं काल के ही उत्स की आहट सुनती प्रतीत होती हैं :

इस तम शून्य में तैरती हैं अगत समीक्षा

चित्रांकन के अपने तर्क से ही, एक अँधेरे अतल से प्रकट होता है यह आलोक : \* उत्तरोत्तर निखरता हुआ। आलोक से ही रंग प्रकट होते हैं क्योंकि आलोक के अभाव में रंग की चेतना ही असंभव है। एक महाबलय के सघन श्याम उत्केन्द्र से प्रसर्पित, शुभ्र अलौकिके समकेन्द्रिक बलय एक के बाद एक धिरकते हुए आते हैं.... और ठिठक जाते हैं — वर्ग के चार कोनों में — अपने ताल, नीले, पीले और आदिस शुभ्र रंगों के साथ...। उन्हें अभी और आगे जो फैलना है — बसन्ती, नारंगी, हरे रंगों में। एक समूह वर्णपट के जटिल वैविध्य में।

यही है विन्दु : ध्यान की एकग्रता का ताप-केन्द्र। वर्गों में स्थिर होगया वृत्त : अन्तर्निहित अर्जा की तरंगों का अनुक्षण विस्फोट करता हुआ एक सूर्य; अथवा, कर्त्तृजीविए, स्वयं पृथ्वी — अपनी पूर्णता और समग्रता में पुनः प्रतिष्ठित पृथ्वी।

अपने मूलोद्गम में <sup>चिर-</sup>पुरातन और अपने संघोजनों में विपुल-समृद्ध यह आदिस रूपाकार — यह बलय — ही रंजा के चित्रों का बुनियादी प्रेरणस्रोत बनकर उभरा है : उनको विशिष्ट और चरित्रिक स्वर-लहरी की तरह।

(२)

मध्यप्रदेश के कैंबेया गाँव के मूलनिवासी सैयद हैदर रंजा का 'बिंदू' से सर्वप्रथम परिचय आठ वर्ष की आयु में ही हो गया था। पाठशाला के गुरुजी ने ही सामने दीवार पर वह बिंदू अंकित कर दिया था। उस सरल-सहज रूपाकार ने बालक रंजा की आँखों को ही नहीं, उसकी चंचल-भटकती कल्पना को भी जैसे चारों ओर से सश्रेत कर एक जगह एकग्र और निश्चल कर दिया था। तीन दशकों के अन्तराल के बाद जब रंजा तीर्थयात्री की सी प्रतःस्थिति में अपने गाँव-घर याँचे, तब भी वह विन्दु यथावत् उस दीवार पर विद्यमान था। रंजा के त्रिष वह सुदूर अतीत का सबक तब तक एक गाल-गँभीर दीक्षा में परिणत हो चुका था। अनजाने ही पाठशाला के अध्यापक ने <sup>उत्तम</sup> अध्वन्यताओं से समृद्ध और रहस्यमय, किंतु अराजक विश्व के बीबोबीच प्रकट होने वाले कलात्मक सौष्ठव को रचने की प्रेरणा दे दी थी।

रंजा का लड़कपन भारत के हरद्वार में — चरही के निविड़ सान्निध्य और वन्य प्रकृति के युगाढ सम्मोहन के बीचोबीच — बीता। मध्यप्रदेश के छाने जंगल उनकी नयन कल्पना का आहार-विहार सब मुह्र थे। गोंड और भील आदिवासियों के अनुष्ठानों ने रंजा के अनुभव-संस्कार को अन्तरेण विस्तार और गहराई दी। उसे एक विश्व-व्यापी यावन्तता के बोध से आनंदित किया। इतने भी अधिक सहस्रवर्णी था : मध्यभारत के सूर्य की प्रतापी विभूति का अनुभव : पार्थिव प्राणवन्ता को सिरजने या नष्ट करने की उसकी शक्ति का बोध। रंजा की चेतना में यह प्राणवी सा बिम्ब नहीं गहरे में भिड़ गया। रात में जाँ एकाध और अंधकार की गुलैली दबाएँ लपलपाती लपेटों की तरह उसकी कल्पना को ग्रस लेती थीं, वहीं दूरी ओर, सुबह को फटते ही प्रकाश का मरना अपने नयकीने रंगों से



उस कस्बे को नरता देता था।

भारत से दूर, अपने गालीस वर्षों के लम्बे प्रवास के दौरान अतीत की ये विभिन्न-दृष्टियाँ रज़ा के भीतर निरन्तर रची-बसी रहीं। स्मृति की यह कैसी अद्भुत लीला और भूमिका है कि वह अतीत के बिम्बों से ही पोषण प्राप्त करती है — विशेषकर तब तो और भी, जब हम उससे दिक् और काल के दोनों आयामों में बिड़ुड़े रहते हैं। मन की आँख इन अनुभूतियों को संजोकर रखती है — चित्रफलक पर उनके एकाग्र अवतरण के लिए।

बीस बरस के अंतराल के बाद पेरिस-निवासी रज़ा के कृतित्व में वह बिंदु अपनी पूरी शक्ति और प्रांजलता में प्रकट हुआ : सन् '५३ का उनका 'काला सूरज' आकाश में प्रस्फुटित होकर दूसरा-गेरुई घरों के विस्तार को फुलसाता हुआ चरती के निर्जल परिदृश्य पर अपनी एकद्वज सत्ता स्थापित करता दीखता है : बिंदु के रूप में अर्ज के चक्राकार वलय उत्पन्न करता हुआ ... और सूर्य के रूप में चरती को उसकी रंग-सम्पदा सौंपता हुआ।

प्रकृति रज़ा के लिए एक चित्रमय रूपक बन चुकी थी : जंगल, नदी-नाले और प्यासी चरती। सौ गुना परिवर्धित महाकाय सूर्य, प्रचण्ड अर्ज का गतिमय विस्फोट और सृष्टि का एकमात्र आलोक-स्रोत। मानवीय वास्तवों के चिन्हों को फलकाता हुआ, कालरूपी हत से जुता हुआ भू-दृश्य। यही थी साठ और सत्तर के दशकों में रज़ा के चित्र-कर्म के अनिवार्य अंग।

यही हैं वे सृष्टि की चातक शक्तियाँ, जो सदा से रही हैं। अनोढ़ और अनन्त हैं। इसीलिए वे एक कालातीत आयाम में नितान्वित सी प्रतीत होती हैं — ऐसे नुम्बकीय बलों की भाँति — जो इस ब्रह्माण्ड की पावन संरचना को — उसके 'मृत' को — धारण किए हुए हैं।

(३)

सन् १९५० से पेरिस ही रज़ा की कर्मभूमि रही है। यहीं उन्होंने अध्ययन किया और यहीं रहकर वे अपने चित्रों की रचना में रहे रहे हैं। Rue de la Charonne के एक सैलरूवीं सदी के कॉनवेंट में अबास्थित शिल्पशाळा उनका निवास है। अपने जीवन-तथ्य को संपर्कित धर्मीनिष्ठा सरीखी उनकी एकाग्रता उतनी ही सजगता के साथ चित्रकला की उस सूक्ष्म और पीथुद्द शिल्पाविधि की खोज में भी संलग्न रही है जो उनके ध्येय को शक्तिमान् कर सके। १९८५ में प्रकाशित एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा भी है कि फ्रांस के प्रशिक्षण ने उनकी रूप-चेतना को प्रभावित किया है। रंग और रूप का वाद्यवृन्दकरण उस प्राणवत्ता की प्रतिष्ठा करता है जो एक प्रतिभा को जन्म देने का निमित्त बनती है।

सत्तर के दशक के 'La Forge' सरीखे चित्र रज़ा की कला-साधना के उस सौपान का संकेत देते हैं जिसे हम अनुसंधान या खोजघाना कह सकते हैं। अपनी गहराइयों में ये चित्र मध्यप्रदेश के भयावहे अरण्यों का आवाहन करते हैं। वे तलिका के ऐसे सृज अनुभूत और बेचैन आग्रहों से उपजे हैं जो अभी अपनी केन्द्रीय विषय-वस्तु की खोज ही कर रहे हैं। 'मा' शीर्षक उनकी कृति इसी चेष्टा के अंतिम-चरणों को फलकाती है। १९७८ में 'बिंदु' एक केन्द्रीय अर्ज के रूप में पुनः प्रकट होता है। प्रकाश और अंधकार के दो वर्गीकार क्षेत्रों के बीच नितान्वित, आकाश में संतुलित एक उत्केन्द्र।

१९८५ में बम्बई में आयोजित 'विजुअल आर्ट्स : ईस्ट-वैस्ट एनकाउण्टर' के प्रसंग में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए रज़ा कहते हैं :

" मेरा वर्तमान कार्य दो समानान्तर जिज्ञासाओं का प्रतिफलन है। प्रथमतः इनका लक्ष्य विशुद्ध रूप-रचना एवं आकार-संतुलन की सिद्धि है। दूसरा इसका मुख्य सरोकार प्रकृति की विषय-वस्तु से है। दोनों जिज्ञासा-रेखाएँ अन्ततः एक बिंदु पर मिल



जाती हैं। एक दूसरे से अविच्छेद्य। बिंदु उस बीज का प्रतीक है, जो एक तरह से समग्र जीवन की संभावना को धारण करता है। वह एक दृश्य स्वरूप भी है जो अपने आप में रेखा, आभा, रंग, घोट और दिक् इत्यादि सभी आवश्यक वस्तुओं को अपने में समाविष्ट किए रहता है। काला अंतरिक्ष ऐसी संगोपित ऊर्जाओं का भण्डार और उनसे आवेशित है, जो अपनी चरितार्थता खोज रही हैं।

पंचतत्त्व माने दिक्काल को नियंत्रित करने के साधन हैं : अखिल ब्रह्माण्ड में एक सामंजस्य, एक 'सृत' की स्थापना के लिए। इस अवधारणा की अभिव्यक्ति के लिए कलाकार उन सिद्धान्तों का आश्रय लेता है जो चित्र-भाषा को निर्धारित करते हैं : बिन्दु, रेखा, विकर्ण, वृत्त, वर्ग और त्रिभुज की सारभूत शब्दावली को। वृत्त या त्रिभुज या वर्ग-वृत्त के विशिष्ट स्वरूप का उसका प्रयोग अनिवार्यतया चमकधर्मी होता है — तत्त्वों की चुम्बकीय शक्ति का आभास करने के लिए। इन अपर से सृज-सरत लगने वाले उपायों द्वारा वह चित्रफतक पर एक संवादी संतुलन का आरोपण करता है।

यह ही सरत उपायों से  
मुझे विश्वास है  
हम असीम को पा सकते हैं

विशुद्ध ज्यामिति और उसकी सूचकता के प्रति इस तरह के लगाव का अर्थ यह भी घटाया जा सकता है कि यह कुछ उसी प्रकार की चेष्टा है जैसी कि रूपवादियों, संरचनावादियों और यहाँ तक, कि नव-तान्त्रिकों के यहाँ भी देखी जा सकती है। किंतु इससे बड़ी प्रतिभा और कुछ नहीं हो सकती।

१९८३ में दिल्ली की आधुनिक कला-दीर्घा ने राजा को विदेश में आयोजित एक नव-तान्त्रिक प्रदर्शनी में भागीदारी के लिए आमंत्रित किया था। राजा ने इनकार कर दिया। उनका इनकार बहुत अर्धवान था क्योंकि उससे स्पष्ट होता है कि वे भारत की समकालीन चित्रकला के संदर्भ में स्वयं अपने कृतित्व को किस तरह आँकते हैं। उन्हींके शब्दों में :—

"मेरा 'वृत्त' या 'वर्ग' को मूल अभिप्रायों की तरह प्रयोग करना मेरे चित्रों को तान्त्रिक नहीं बना देता, भले ही मैंने उन्हें 'बिंदु', 'सूर्य', अथवा 'जमीन' शीर्षक दिये हों। मुझे पता है, तंत्र एक अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल दर्शन है। उसके विश्वासों या अनुष्ठानों के बीरे में मेरा ज्ञान बहुत सीमित है। मेरी चित्रकला का बुनियादी सरोकार रूपकार की प्राणकता है और मेरे सारे कलात्मक प्रयत्न एक सुसंगत चित्रात्मक तर्क की दिशा में ही नियोजित रहे हैं।"

(४)

किसी चित्र का अर्थ रूपकार अथवा रूपक तक ही सीमित नहीं। उसके अन्तर्गत भी उसके अभिप्राय हो सकते हैं। अतिरिक्त विश्लेषण में कोई भी चित्र कलाकार के अवबोधनों और भावनाओं को — उसके आन्तरिक अनुभव-संसार को — प्रकट करता है। हालाँकि प्रस्तुत चित्र प्रायोगिक यथार्थ का सीधा प्रतिफलन नहीं हैं; उनमें भारत की स्मृतियों का भरपूर स्पंदन है और वे स्मृतियाँ स्वयं एक जन्मजात सौन्दर्य-बोध का परिणाम हैं।

पेरिज़ में राजा के स्टूडियो की छेटी से छेटी वस्तुएँ भी उनके भारतीय मूलों को उजागर करती हैं। पुस्तकों के बीच रक्खन वह चमकीला काला पत्थर केवल नर्मदा के पवित्र प्रवाह में ही पाया जाता है और महाकाल शिव की उपास्थिति का प्रतीक है। वहीं पास में फलकता है — पूजा के अनुष्ठानों में प्रयुक्त होनेवाला, अपनी पावनता से ही देदीप्यमान एक उजला शंख। वहीं एक काष्ठ-शिल्प गुजरात के मंदिरों का स्मरण जगाता है, जिसकी आँखों के आसपास बड़े-



वड़े चुम्बकीय बलवत् दृष्टिगोचर हो रहे हैं। फर्श पर जो कालीन बिछे हैं, वे भी चरती के उजले रंगों की गाथा गाते जान पड़ते हैं। उनकी बुनावट में राजस्थानी रंगों की गरमक है। इस सबके बीच दर्शक अनुभव करता है कि कहीं एक अन्धकारव्येय ढंग से राजा की ये चित्र-कृतियाँ भी इसी भाव-बोध से अनुप्राणित हैं।

निश्चय ही यह कलाकार घेरणा के स्वदेशी स्रोतों की ओर अनुभव है क्योंकि, जैसा वह स्वयं एक जगह कहता है, "राजपूत और जैन चित्रकृतियाँ मुझे मुगल या पश्चिम मीनियेचरों की तुलना में कहीं अधिक प्राणवन्त लगती हैं।" राजा के चित्रों की बुनावट पर, उनके रंग-संवाद पर ध्यान दें तो पुरातन राजपूत चित्रकला का प्रेरणात्मक योगदान समझ में आने लगता है। यह वह कला थी जो प्रेम और युद्ध, राग और काव्य में से जन्म लेती है और दर्शक को अपने तीव्र संवेगों से अभिभूत कर देती है। सत्रहवीं सदी के मालवा और मेवाड़ के चित्रों को ही देखें, गहरे लाल और गहरे काले रंगों के साथ चमकीले बसन्ती पीले और सफ़ेद अन्तरालों के संयोजन पर गौर करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन्होंने राजा के चित्रों पर अपनी द्वाप अवश्य छोड़ी है। उदाहरण के लिए, उनकी 'राजस्थान' और 'सौराष्ट्र' शीर्षक की कृतियों पर। सबसे अन्त में आता है - बिम्बा को चारों ओर से घेरता हुआ गाढ़ा काला शीर्षांकन। मानो हम सुदूर अतीत में किसी प्रतिमा को निहार रहे हों। चौखटे में जड़ी प्रतिमा को।

भारतीय संगीत और काव्य राजा के लिए आनन्द और घेरणा का अक्षय स्रोत रहे हैं। उनके चित्रों में देवनागरी लिपि में अंकित हिन्दी कविता की पंक्तियाँ उनके अमूर्त बिम्बों की मानवीय अनुभव से जोड़ी प्रतीत होती हैं। 'मा' शीर्षक उनका बृहद चित्रफलक मातृभूमि के प्रति गहरे पर्युत्सुकी भाव से स्पन्दित है : न केवल अंकित काव्य-पंक्तियों में, बल्कि रागदीप्त रंगों के प्रकम्पन में भी।

एक ही प्रहंग पर कविता, गीत और चित्र आपस में एक सघन रागबन्ध रचते हैं। भारतीय संगीत का शब्द 'राग' संस्कृत की 'रंज्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है — रँगना, मानव-हृदय को रंजित करना — उसके भीतर विविध भाव-दशाओं की जगाना। प्रत्येक राग का अपना विशिष्ट स्वर-संयोजन होता है और अपना विशिष्ट समय भी। कोई राग उषाकाल की भाव-दशा को व्यक्त करता है तो कोई वसन्त की खहार को और कोई अपने प्रिय की प्रतीक्षा करती नायिका की उत्कंठा और मान की मिली-जुली मतःस्थिरियों को। 'राग-माला' और क्या है — यदि वास्तव रूपान्तर में इन काव्यमयी मतःस्थिरियों का चित्रण ही नहीं तो ?

राजा के चित्रों में बिम्बा और कविता का संयोग इसीलिए 'रागमाला' की शास्त्रीय परम्परा के जेल में ही है। वे एक ऐसी भाव-दशा रचते हैं, जिसमें छवि हमारी समस्त इन्द्रियाँ चौकन्नी हो उठती हैं — जिसमें हम अपनी सपूची सत्ता से एकत्र दर्शन, श्रवण और मनन करने लगते हैं। यह राजा का ही उद्गार है, कि "भारतीय कला में रंग एक तरह की भाव-समाधि का, आनन्द का पर्याय है।"

राजा की चित्रकला का कोई भी आलोचनात्मक मूल्यांकन यह लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकता कि उनके यहाँ एक ही विषय-वस्तु अनेकानेक रूपान्तरों में अभिव्यक्त हुई है। किंतु राजा इस दुहराव की कोई सफाई देने की ज़रूरत महसूस नहीं करते। वे 'जप' की प्राचीन भारतीय परम्परा की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं जो क्या हिंदू-धर्म, क्या बौद्धधर्म और क्या इस्लाम, सभी जगह एक ही स्वीकृत



और समावृत्त रही हैं; और जिसमें कुछ अक्षरों का मञ्जोच्चार भाव की चरम विह्वलता में परिणत हो जाता है। वे संगीत का दृष्टान्त देते हैं : क्या हम नहीं देखते कि ~~किस~~ किस तरह एक संगीतकार उसी एक राग को विभिन्न अवसरों पर गाता या बजाता है और फिर भी हरबार उसकी प्रस्तुति में नया उन्मेष होता है। उसके प्रदर्शन की वैधता उसकी आभिव्यक्ति की सघनता से ही प्रमाणित होती है। तो, जैसे संगीत में, वैसे ही 'पेंटिंग' में भी उसी एक आभिव्यक्ति का बारम्बार अन्वेषण किया जा सकता है और हरबार एक उच्चतर भूमिका और गहनतर बोध का संस्पर्श पाया जा सकता है।

बिंदु पर ध्यान एकाग्र करते हुए कलाकार गहनतर, पूर्णतर अनुभव-भूमियों में पैठ सकता है। यहाँ, रज़ा के साथ हम पाते हैं कि उनकी खेच-यात्रा उन्हें एक विशिष्ट रहस्योद्घाटन तक, एक नए जीवन के अंकुरण तक ले गई है। 'बिंदु' से ही यह नई चित्र-भृत्यता भी अवतरित हुई जिसका प्रारंभ १९८८ में हुआ था और जिसे चित्रकार ने नाम भी एकदम सटीक दिया है : 'अंकुरम्' — अर्थात् बीज का अंकुश।

(५)

गोश्चियो : जहाँ रज़ा अपनी पत्नी जैनीन के साथ ग्रीष्मकृत में निवास करते हैं, 'Cote d'Azur' के घने नीले समुद्र से कोई सात किलोमीटर दूर पहाड़ियों में अवस्थित एक सुन्दर स्थान है। रोज़ सुबह अपने स्टूडियो की ओर जाते हुए यह कलाकार एक उपेक्षित गिरजाघर के पास रुकता है, जहाँ शायद ही कभी कोई रुकता होगा। रज़ा वहाँ कुछ क्षण चुपचाप बैठकर ध्यान करते हैं। उनके लिए इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि यह इमारत गिरजाघर है, या मस्जिद है, या मंदिर है। यह निर्जन एकान्त और चिन्त की यह निश्चलता उनके भीतर कुछ वैसा ही अनुभव जगाती है, जैसे अनुभव की दीक्षा उन्हें अपने लड़कपन में एक दिन ककैया गाँव में मिली थी।

यहाँ स्टूडियो के उद्यान में एक बहुत पुराना जैतून का पेड़ है। चेरी, प्लम और अंजीर के वृक्ष भी इस स्वर्गोपम उद्यान में उगे हुए हैं। पर्वत की पृष्ठभूमि में बाँस के निकुंजों की निराली शोभा है। ताजा प्रकार के फल भी खिले हुए हैं : 'मिरोसा' के नन्हें पीले पुष्प, गहरा लाल बैंगुनिया, गुलाबी पेदुनिया, बैजनी लोबेडर, बोना नामकी काली बिल्ली आँगन की टूटी स्टेड सीढ़ियों पर लेटी हुई है।

ये सारे विवरण व्यर्थ नहीं लगते। ये सभी मिलकर उस वातावरण का निर्माण करते हैं जिसमें रज़ा की चित्र-संवेदना सक्रिय होती है। उजली धूप और मुक्त आकाश के परिवेश में रंग भी एक प्रभासिक्त गुणवत्ता ग्रहण करते हैं — जो रज़ा के चित्रों में पूरी सजीवता के साथ चरितार्थ हुई है। हरी टहनियों के प्रतारों में भी वह कविता है, रक्तपुष्पों में भी वह रागदीप्ति है; पूर्णिमा की रात को पहाड़ी के पीढ़े से झाँकते चन्द्रमा से आलोकित गोरवियों की हवा में भी वह जादू है। इस सब के आत्मसात् होने की प्रक्रिया भी जारी रहती है; भले ही, स्वयं रज़ा की स्वीकारावृत्ति के अनुसार, — "मैं तो अपनी आँखें मूँद कर, अन्तर्मुख होकर ही देखता चाहता हूँ।" जाहिर है कि रज़ा इस तरह जो कुछ देखते हैं, वह उनके लिए हुए, जाने हुए जीवन का ही रूपक होता है।

आकृति

अभी कुछ वर्ष पूर्व इस कलाकार को पत्थर की एक ~~चित्र~~ मिली जिसमें उसे अपना



ही एक अस्फुट विचार आकार रूप धारण करता प्रतीत हुआ। चाबी की तरह के आकार की ओर भीतर अंकित वलय वाली यह शिला उन असंख्य 'योगियों' से मिलती-जुलती थी जो गर्भदा के पाठों पर हर जगह दीख जाती है। चित्रकार ने इस शिला को अपने स्टूडियो की देखरी पर स्थापित कर दिया और उसमें मिट्टी भरके बीज भी बो दिए। हर बरत में इसके भीतर से घास के नन्हे-नन्हे प्ररोह उग आते हैं — सूर्य की कृपा से निमोहित होकर।

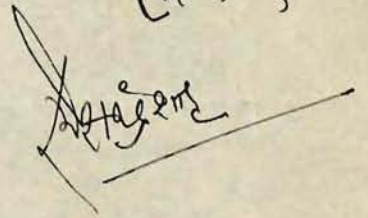
यह बिम्ब और विचार रत्ना के कृत्विक् के इस 'अंकुरण' वाले दौर के लिए बुनियादी मॉडल रहता है। इन नए चित्रों में 'बिंदु' स्पष्टतः गतिशील दिखाई पड़ता है : आकाश और चित्रफलक के माध्यम में। कभी-कभी यह गति त्रि-आयामी जान पड़ती है : मानो अपनी-अपनी पुरी पर सूर्य अथवा पृथ्वी चित्रफलक से बाहर और ऊपर फूट पड़ रहे हों और बड़े वेग से गतिमान हों। इन चित्रों में लाल और काले रंग दो इकाइयों, दो ध्रुवों की तरह परस्पर मिल रहे हैं — नर और नारी की तरह। दोनों के बीच, दो त्रिभुजों के भीतर वे नए पौधे जन्म पा रहे हैं। आकाश, या कि पृथ्वी ही जैसे सगमी हो गई है। रत्ना की यह नई खोज रत्ना के ही शब्दों में :

पृथ्वी के केंद्र में स्थापित है श्याम बिंदु  
जगती के गर्भ में वर्धमान भ्रूण सा

यह बिम्ब और विचार रत्ना के चित्रकर्म के इस नए दौर के शून्य में अन्तर्निहित है। प्रेरणा के क्षण में एक कौंध की तरह हमें स्पष्ट दीख जाता है कि किस प्रकार सूर्य — पृथ्वी की अर्जा और आलोक का एकमात्र स्रोत सूर्य — पृथ्वी को गतिवि करके वनस्पतियों में प्राण-प्रतिष्ठा करता है। यही वह नया राग-रहस्य है, यही वह नई 'पकड़' है, जो एक के बाद एक इन चित्रफलकों को अनुप्राणित कर रही है। रत्ना की ये कृतियाँ एक आन्तरिक चित्रात्मक तरीके से ओतप्रोत हैं : 'बिंदु' के विचार का ही तार्किक पल्लवन।

— अंग्रेजी से अनुवाद :

मैशचंद्र शाह



३/२ जोधसर्ह कॉलोनी

विद्याविहार

भोपाल - 462002

(मं० ७)